आमुख

—स्व० पं० गंगाप्रसाद उपाध्याय

"ज्ञान की ज्योति"

अमावस्या की चन्द्रिका रहित अंधेरी रात के पश्चात् जब सूर्य निकलता है तो प्राणिमात्र नये जीवन से अनुप्राणित हो उठता है। पशु पक्षी बड़े हर्ष से अपने-अपने कार्य में लग जाते हैं। मनुष्य न केवल प्राकृतिक सौंदर्य का आनन्द लेता है अपितु अपने जीवन की समस्त क्रियाओं के करने में तत्पर हो जाता है। अन्धकार और प्रकाश में यही भेद है। अन्धकार अकर्मण्यता है और प्रकाश जीवन है।

जैसे सूर्योदय से शरीर-जीवन में प्रेरणा मिली है इसी प्रकार जब वेद रूपी सूर्य का प्रकाश ऋषियों की आत्मा में पड़ा होगा उस समय ऋषियों ने जीवन के महान् तत्त्वों की खोज करके मनुष्य जाति को ऊँचा उठाने का प्रयास किया होगा। वैदिक साहित्य इन तत्त्व-रत्नों से भरा पड़ा है।

ऋग्वेद मण्डल १, सूक्त ५० के १३ वे मन्त्र में लिखा है:—

उदगादयमादित्यो विश्वेन सहसा सह।
द्विषन्तं मह्यं रन्धयन् मो अहं द्विषते रधम्।

देखो सूर्य निकला विश्वव्यापी प्रेरणा और प्रकाश के साथ। मुझ से द्वेष करने वाली शक्तियां नष्ट हो गईं। वह मेरा नाश न कर सकीं।

सूर्य मित्र है, अन्धकार शत्रु है। ज्ञान मित्र है, अज्ञान शत्रु है। वेद ज्ञान है। उससे मनुष्य का कल्याण होता है। इसलिये वेद पढ़ना चाहिए।

वैदिक प्रेरणाओं में सबसे महत्वपूर्ण है सच्चाई के लिए व्रत करना। यजुर्वेद के १ ले अध्याय के ५वें मन्त्र में प्रार्थना की गई है।

अग्ने व्रतपते व्रतं चरिष्यामि तच्छकेयं तन्मे राध्यताम्।
इदमहमनृतात् सत्यमुपैमि। (यजुर्वेद १-५)

हे ईश्वर ! मैं व्रत करता हूँ कि झूठ को छोड़कर सच की खोज करूंगा। प्रभो ! मेरी सहायता कीजिये।

संसार में अनेक प्रकार के व्रत पाये जाते हैं। कोई एक दिन उपवास करता है कोई एक मास। कोई इससे भी अधिक। परन्तु यह व्रत नहीं हैं। खाना न खाने का नाम व्रत नहीं। व्रत एक मानसिक संकल्प का नाम है। ऐसा संकल्प कि असत्य का त्याग करने और सत्य को ग्रहण करने के लिये सर्वथा उद्यत रहे। वेद की यही आज्ञा है और 'आर्य समाज' के ४ थे नियम में इसी व्रत को दुहराया गया है। इस एक व्रत के प्रयास में अन्य सब छोटे बड़े अच्छे काम आ जाते हैं। 'नहि सत्यात् परोधर्मः' अर्थात् सांच से बढ़कर कोई पुण्य नहीं और यह बात ठीक है तो झूठ से बढ़कर कर कोई बुरी चीज नहीं। इसलिये वेद मंत्र का मुख्यतम उपदेश यह है कि सत्य को खोजो, सत्य को बोलो और सत्य-निष्ठ होकर जीवन व्यतीत करो।

वैदिक साहित्य में उपदेश है कि मनुष्य चार चीजों को ग्रहण करे और और चार को छोड़ दे। ग्रहण करने की चार चीजें यह हैं—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। और छोड़ने की चार चीजें हैं-काम, क्रोध, लोभ और मोह। पहले चार गुण मनुष्य के मित्र हैं और पिछले चार अवगुण मनुष्य के शत्रु हैं।

धर्म क्या है ? वेद कहता है :—

भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देव।
भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः।
स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवाँस स्तनूभि-
र्व्यशेमहि देवहितं यदायुः॥ (यजु० २५-२१)

हे यज्ञरूपी पुण्यकर्मों की रक्षा करने वाले विद्वानो ! हम कानों से भद्र सुनें। आँखों से भद्र देखें। सुदृढ़ अगों के द्वारा शरीर को पुष्ट करते हुए हम लोग दिव्यगुण सम्पन्न आयु का उपभोग करें।

संसार भद्र भी है और अभद्र भी। यों तो जगत् की सभी चीजें भद्र हैं, क्योंकि वे हमारे हित के लिये दी गई हैं। आंख हमारे भले के लिये हैं। क्योंकि इससे देखते हैं। सूर्य आँख की सहायता के लिये है। सूर्य न हो तो आंख देख नहीं

सकती । अंधापन अभद्र है । समाखापन भद्र है । आँखें न हों तो गुलाब के फूल का सौंदर्य हम को आनन्दित नहीं कर सकता । इसी प्रकार सब चीज़ों पर विचार कीजिये । लेकिन जब मनुष्य अज्ञानवश पशु बन जाता है तो सारा जगत् उसके लिए अभद्र हो जाता है । वेद इसीलिये पढ़ा जाता है कि वेद के ज्ञान से हम पशु न बनें । देव बनें । पशुओं की नीच प्रवृत्तियों से अपने को रोकना और देव बनने की कोशिश करना ही धर्म है । धर्मात्मा वह नहीं है जो 'धर्म' 'धर्म' चिल्लाता है । जैसे कि भारत की गलियों में सूर्य ग्रहण पड़ने पर मेहतर चिल्लाया करते हैं 'धर्म करो' 'धर्म करो' ! न सूर्य को आपत्ति से बचाने के लिये गंगा में डुबकी लगाना धर्म है । पग-पग पर मनुष्य में पशुओं की सी प्रवृत्तियाँ बढ़ने का डर रहता है । इन प्रवृत्तियों को सजग होकर रोकना ही धर्म है । शरीर के अंगों को गांजा पीकर या निरर्थक उपवास रखकर सुखा देना धर्म नहीं है । प्रभु ने शरीर के अंग सुखा डालने के लिए नहीं बनाये । सुदृढ़ करने के लिये बनाये हैं । कान हों या आँखें,हाथ हों या पैर––सभी बलवान् होने चाहिए । और जब अंग सुदृढ़ हो जायें तो इनसे ऐसे काम करना कि हम 'देव' बन जायें । यही धर्म है । यही भद्र है । यदि अज्ञान या आलस्य के वशीभूत होकर हम दैवी शक्तियों का विकास नहीं कर सकते तो यही अभद्र है । यही अधर्म है ।

धर्म के पश्चात् दूसरा नम्बर 'अर्थ' है । उस सब सामग्री को जुटाना जिससे धर्म में प्रवृत्ति हो और अधर्म से बचें इसी को 'अर्थ' कहते हैं । वेद में अर्थ का नाम 'रयि' है । साधारण भाषा में इसी को 'धन' या 'दौलत' कहते हैं । सच्चा धन या असली 'दौलत' क्या है ! वेद कहता है :—

अग्निना रयिमश्नवत् पोषमेव दिवे दिवे ।
यशसं वीरवत्तमम् । (ऋग्वेद १।१।३)

धन को ईश्वर की सहायता से कमाओ । यह 'अर्थ' की पहली शर्त है । चोर और डाकुओं की सहायता से भी धन कमाया जा सकता है । जुआ खेल कर भी धन कमा सकते हैं । परन्तु यह 'अर्थ' नहीं 'अनर्थ' है । भोजन नहीं, विष है, विष भी खाया जाता है, और भोजन भी खाया जाता है । परन्तु विष के खाने से हम धर्म करने के समर्थ नहीं होते । इसलिये 'विष' भोजन नहीं । जो 'धन' बुरे काम करके कमाया जाता है वह 'धन' नहीं है । धन

शब्द 'धा' धातु से बना है, जिससे हमारा वास्तविक हित न हो वह 'धन' नहीं अधन या कुधन है। अंग्रेजी में इसको 'वेल्थ' (Wealth) कहते हैं। 'वैल्थ' शब्द 'वील' (Weal) से बना है। 'वील' का अर्थ है 'भद्र'। जिससे मनुष्य के 'वील' अर्थात् 'भद्र' में उन्नति नहीं होती वह 'वील' या 'वैल्थ' नहीं है। रुपया, पैसा, मकान, जायदाद, राज यह सब 'अर्थ' भी हैं और 'अनर्थ' भी। यदि उन से धर्म या वील (Weal) बनता है तब यह अर्थ या वैल्थ हैं। अन्यथा अनर्थ और अभिशाप (Curse) हैं। ऋग्वेद के ऊपरी मन्त्र में अर्थ के तीन लक्षण दिये हैं :—

(१) **दिवे दिवे पोषम्**—दिन प्रतिदिन जिससे हमारी पुष्टि हो। जिस भोजन से शरीर कमजोर हो जाये वह भोजन नहीं, जिस धन से मनुष्य अपने को निर्बल और भयभीत समझने लगे वह धन या अर्थ नहीं।

(२) **यशसं**—अर्थात् यश की वृद्धि करने वाला हो। धनाढ्य जुआरी, धनाढ्य कंजूस, धनाढ्य जालिम, धनाढ्य घमण्डी, धनाढ्य लोलुप या विषयी, यह सब यश के भागी नहीं होते। जो रुपया मालिक में पाशवी (जंगली) प्रवृत्तियों को उत्पन्न करता है और दूसरों को बिगाड़ता है वह 'रयि' या 'अर्थ' नहीं है। क्योंकि यह यश का दाता नहीं है। 'सम्पत्ति' का नाम है 'यशोदा' अर्थात् यश को देने वाली। जैसे फूल में सुगन्धि होती है उसी प्रकार सम्पत्ति-शाली पुरुष में यश होता है, सुगन्धि फूल को फूल बनाती है और सैकड़ों नाकों में जाकर उनको आनन्दित करती है। यश मनुष्य को स्वयं आनन्द देता है और दूसरों को आनन्दित करता है। जो धन दूसरों को कष्ट दे वह 'धन' नहीं अनर्थ है। इसलिए त्याज्य है।

(३) **तीसरा वीरवत्तमम्**—अर्थात् धन वीरता का साधन हो। जिस धन से मनुष्य निर्बल हो जाये वह तात्त्विक रूप से धन नहीं। प्राय: देखा गया है कि धनवान् मनुष्य निर्धन की अपेक्षा शारीरिक बल में, मानसिक उत्साह में और आध्यात्मिक प्रेरणाओं में निर्बल होता है। निर्धन जातियाँ धन वाली जातियों को कमजोर देखकर उन पर आक्रमण करतीं और उनको जीत लेती हैं। यह यथार्थ में धन नहीं था। जिस धन में उपर्युक्त तीन गुण नहीं वह वेद की भाषा में अर्थ नहीं।

धर्म और अर्थ के पश्चात् तीसरा नम्बर 'काम' का है। मनुष्य का मन कामनाओं का पुतला है। अनेक प्रकार की अच्छी और बुरी इच्छायें मन में

उठा करतीं हैं। कुछ तो धर्म और अर्थ के अनुकूल होती हैं। कुछ प्रतिकूल। कुछ इच्छाओं की प्रेरणा मनुष्य को धर्मात्मा और यशस्वी बनाती है, और कुछ की पापी और अधम। जो 'काम' अर्थात् इच्छायें धर्म और अर्थ की अनुगामिनी होती हैं वे मनुष्य के कल्याण का साधन होती हैं। यजुर्वेद में लिखा है :—

यज्जाग्रतो दूरमुदैति दैवं तदु सुप्तस्य तथैवैति।
दूरंगमं ज्योतिषां ज्योतिरेकं तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ॥

(यजुर्वेद ३४–१)

कि हमारा मन जो जागते में तथा स्वप्न में अनेक प्रकार की शुभ और अशुभ कामनाओं की पूर्ति के लिए दूर-दूर भटकता रहता है वह मन "शिव-संकल्प" अर्थात् ऐसी कामनाओं वाला हो जो धर्म और अर्थ का अनुसरण करके चौथे पदार्थ अर्थात् मोक्ष को देने वाली हो सकें। वेद मंत्र में 'मन' को ज्योतिषां ज्योतिः' अर्थात् प्रकाशों का प्रकाश कहा है। मन अंधेरा है तो संसार अंधेरा है। मन में रोशनी है तो संसार रोशन है। क्योंकि 'मन' ही तीसरे बड़े पदार्थ अर्थात् काम का साधक है। मनुष्य की कामनाओं को देखकर ही आप जान सकते हैं कि वह सभ्यता की सीढ़ी के किस डण्डे पर है और वह ऊपर जा रहा है या नीचे गिर रहा है। इसी के आगे एक मन्त्र में कहा है—

यस्मान्न ऋते किञ्चन कर्म क्रियते तन्मे मनः शिव-संकल्पमस्तु। (यजु० ३४-३)

अर्थात् बिना मन के तो कोई काम किया ही नहीं जा सकता। जब मन हर काम करने के लिये इतना आवश्यक है तो मन को सबसे अधिक शुद्ध और पवित्र होना चाहिए। मैला शरीर, मैली इन्द्रियाँ हानिकारक हैं। परन्तु मैला मन सबसे अधिक हानिकारक है। इसी मन की सहायता से डाकू डाका डालता, चोर चोरी करता, व्यभिचारी व्यभिचार करता, शराबी शराब पीता और कसाई पशुओं को मारता है। इसी मन से विद्यार्थी विद्या पढ़ता, याज्ञिक यज्ञ करता, दानी दान देता, परोपकारी परोपकार करता, ईश्वर भक्त ईश्वर की उपासना करता है। चोर की धन की इच्छा भी एक कामना है। योगी की ईश्वर प्राप्ति की इच्छा भी एक कामना है। परन्तु कामना कामना में भेद

है। धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष के पुण्य-चतुष्टय में 'काम' एक पवित्र वस्तु है। वह धर्म और अर्थ की अनुगामिनी है और मोक्ष तक पहुँचाने वाली है।

इस पुण्य-चतुष्टय का चौथा चरण है 'मोक्ष'। अर्थात् छुटकारा। छुटकारा किससे? मनुष्य के हाथ में है ही क्या जिसको वह छोड़ सके। मैं इसी संसार का एक अंग हूँ। जैसे कि अन्य सब हैं। हम संसार को छोड़कर कहाँ जा सकते हैं? लोग दुनिया से तंग होकर दुनिया से भागते हैं। दुनिया परछाईं की तरह उनके साथ दौड़ती है। महात्मा बुद्ध ने धम्मपद में कहा है कि गाड़ी का बैल जब दौड़ता है तो समझता है कि यदि मैं तेज दौड़ूंगा तो गाड़ी के बोझ से छुटकारा मिल जायेगा परन्तु जितनी तेजी से वह दौड़ता है उतनी ही तेजी से गाड़ी उसके पीछे दौड़ती है क्योंकि बैल का गाड़ी से बन्धन तो वैसा ही विद्यमान है। वह तो टूटा नहीं। जब तक बन्धन नहीं टूटता बैल का पीछा भी नहीं छूटता। वेद कहता है:—

त्र्यम्बकं यजामहे सुगन्धिं पुष्टिवर्धनम्।
उर्वारुकमिव बन्धनान् मृत्योर्मुक्षीय माऽमृतात्॥

(ऋग्वेद ७। ५९। १२)

अर्थ:—हम तीनों लोकों के पिता परमात्मा की उपासना करते हैं जो सुगन्ध आदि सभी प्रकार के आनन्दों का दाता और हमारी आध्यात्मिक शक्ति को बढ़ाने वाला है। परमेश्वर की इस उपासना से मैं मृत्यु से इस प्रकार छूट जाऊं जैसे पका हुआ फल डण्ठल से अलग हो जाता है। कच्चे फल को तोड़ने में फल से भी रस बहने लगता है और डण्ठल से भी। अधिक कच्चे फल को तोड़ने में कठिनाई भी बहुत होती है, पका फल स्वयं ही गिर पड़ता है। और उसके गिरने से न वृक्ष को हानि पहुँचती है न फल को। फल का फलत्व इसी में है कि फल पक जाये और उससे अधिक-से-अधिक उपकार हो सके।

इस मंत्र में 'अम्बक' का अर्थ है 'पिता'। जैसे 'अम्बा' का अर्थ है माता! 'त्र्यम्बक' का अर्थ हुआ तीनों लोकों का पिता, अथवा मनुष्य की अधम, मध्यम और उत्तम अवस्थाओं में उसका पालन और कल्याण करने वाला। परमेश्वर की उपासना हर दशा में मनुष्य की रक्षा करती है। ईश्वर का उपासक पके फल के समान है। फल का जन्म वृक्ष पर होता है। उसका पालन भी वृक्ष

पर ही होता है। वृक्ष से फल अपना रूप, अपना रस, अपना सब कुछ लेता है और शनैः शनैः पूर्णतया विकसित हो जाता है। पके फल को वृक्ष की फिर आवश्यकता नहीं रहती। उसे वृक्ष से जो कुछ लेना था वह ले चुका। अब कुछ लेने को शेष नहीं है। अतएव वह स्वयं ही गिर पड़ता है और वृक्ष को आँसू बहाने की आवश्यकता नहीं होती। मनुष्य भी इसी संसार रूपी वृक्ष का एक फल है, इसी में उत्पन्न होता है। इसी में फलता है। इसी में इसका विकास होता है। कच्चे फल को न तो वृक्ष छोड़ना चाहता है, न फल वृक्ष को छोड़ना चाहता है। अविकसित और कच्चा मनुष्य न तो संसार को छोड़ना चाहता है और न संसार उसको छोड़ना चाहता है। घर, गृहस्थी के झंझटों से तंग आकर लोग घर को छोड़कर वनवासी बन जाते हैं। वह समझते हैं कि संसार को उन्होंने त्याग दिया। परन्तु यह उनका भ्रम मात्र है। न उन्होंने संसार को छोड़ा, न संसार ने उन्हें छोड़ा। जब वह घर से निकल कर जंगल को भागे तो जंगल में भी घर उनका पीछा करता हुआ आपहुँचा। वह बाना बदल सकते थे। श्वेताम्बर से काषायाम्बर हो सकते थे। जटायें बढ़ा सकते थे। परन्तु मन तो कच्चे फल के समान संसार से बंधा हुआ था। अतः उनको छुटकारा न मिल सका। वेद मन्त्र कहता है :—'बन्धनात् मृत्योः मुक्षीय' "हे प्रभो ! मैं मृत्यु के बन्धन से छूट जाऊं।" 'मा अमृतात्'। अमृत से मैं न छूटूं। जो अमृत से छूटा है वह मुक्त नहीं है। क्योंकि वह मौत के बन्धन में है। मौत उसके सिर पर मण्डलाती है। वह मौत से भयभीत है। वन में जाकर उसने क्या छोड़ा ? शरीर की भावनायें वही रहीं ? मौत का डर वैसा ही रहा, तृष्णा वैसी की वैसी ही रही। विषयों की तरंगें मन को गंदा करती रहीं। संन्यासियों ने समझा कि हम भगवे कपड़े पहनकर घर के बन्धनों से छूट जायेंगे। बन्धनों ने कहा कि हम गाड़ी के बैल के समान तुमको जकड़े हुए हैं। देखें तुम कहाँ जाते हो। पके फल के समान वही मनुष्य 'मोक्ष' की प्राप्ति कर सकता है जिसने धर्म, अर्थ और काम तीनों की सिद्धि की हो। इसकी सिद्धि संसार रूपी वृक्ष के ऊपर ही हो सकती है। उससे अलग होकर नहीं। अलग होना तो न हितकर है न संभव। जो मनुष्य धर्म के नियमों का पालन करता है उसको स्वयं ही संसार की दुष्ट और अनिष्ट भावनाओं से उपरति हो जाती है। वह बुरी बातों तथा बुरे गुणों से घृणा करने लगता है। जो 'अर्थ' के तत्त्व को समझता है वह अनर्थ से बचा रहता है। उसमें वह

दुष्ट गुण नहीं आने पाते जो अनर्थ से अर्थ के उपार्जन करने वालों में आते हैं। उसकी कामनायें शुभ होती हैं। उनका मन 'शिवसंकल्प' होता हैं। उनको मृत्यु का भय नहीं रहता। वेद मन्त्र में कहा गया है कि मैं मृत्यु से छूटूं। अमृत से न छूटूं। संसारी मनुष्य अमृत से मुक्त है अतः मृत्यु से बद्ध है। जो अवगुणों में फंसा है वह गुणों से दूर है। जो गुणों से युक्त है वह अवगुणों से दूर है।

हमने आरम्भ में कहा था कि चार चीजें ग्रहण करने की हैं और चार चीजें छोड़ने की। हमने संकेत रूप से यहाँ वह वेद मंत्र दे दिये जिनमें इन 'चार पदार्थों' की श्रेष्ठता का वर्णन है। चार छोड़ने की चीजें हैं काम, क्रोध, लोभ, मोह, इस प्रसंग में 'काम' का वही अर्थ नहीं है जो चतुष्क में था। मन में उठने वाली बुरी वासनाओं का नाम 'काम' है। मनुष्य नर होगा या नारी। नर के मन में नारी के प्रति और नारी के मन में नर के प्रति जो अनुचित राग है उसी को 'काम' कहते हैं। नर और नारी का सम्बन्ध एक प्रकार से बड़ा पवित्र सम्बन्ध है, जैसे किसान भूमि में बीज डालता है कि वृक्ष पर फल लग सकें इसी प्रकार नर और नारी का सतोगुणी सम्बन्ध मनुष्य की उत्पत्ति का साधन बनता है। परन्तु यही भावना जब दूषित हो जाती है तो नर-नारी के समुचित सम्बन्ध के स्थान में कुत्सित व्यवहार को जन्म देती है और इससे घर-के-घर तबाह हो जाते हैं। कामवासना मनुष्य का सबसे बड़ा शत्रु है। व्यभिचारी मनुष्य अपने लिए भी अभिशाप है और संसार के लिए भी। जिस व्यक्ति के साथ उसका सम्बन्ध होता है वह नष्ट हो जाता है। उससे मनुष्यों की उत्पत्ति नहीं होती अपितु नरक होता है।

संतानोत्पत्ति के प्रसंग में वेद में कहा है:—

दस मासाञ्छशयानः कुमारो अधिमातरि।
निरैतु जीवो अक्षतो जीवो जीवन्त्या अधि॥

(ऋग्वेद ५।७८।९)

माता के उदर में बच्चा १० मास रह कर और माता के जीवन से अक्षत अर्थात् पूर्ण जीवन ग्रहण करके बाहर आता है। जीवित माता से जीवित पुत्र उत्पन्न होता है। पूर्णतया विकसित माता ही विकसित पुत्र को जन्म दे सकती है। इसलिये माता के लिये 'जीवन्त्या' विशेषण दिया है। कामी

पिता या कामातुरा माता से धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष को प्राप्त करने वाली सन्तान नहीं उत्पन्न हो सकती। अतः 'काम' को पाप-चतुष्टय में सबसे पहले गिनाया है। लौकिक भाषा में वदचलन उसी पुरुष या स्त्री को कहते हैं जिसमें 'काम' की अनुचित प्रवृत्ति हो क्योंकि कामी पुरुष अन्धा है।

कामान्धो नैव पश्यति।

कामी पुरुष न अपना भला देख सकता है न पराया। अतः त्याज्य अवगुणों में 'काम' का नम्बर पहला है।

मनुष्य का दूसरा शत्रु 'क्रोध' है। क्रोध मस्तिष्क का एक विकार है। जैसे घोड़ा बिगड़ जाने पर सवार की जो दशा होती है वही दशा क्रोधी मनुष्य की हो जाती है। उसका खून उबलता है। बुद्धि मारी जाती है। आँखों के सामने अंधेरा छा जाता है। ऐसी दशा में मनुष्य सभी अनर्थ कर सकता है। मातायें बच्चों को मार डालती हैं। बच्चे मां-वाप को मार डालते हैं। शत्रुओं के ऊपर अत्याचार तो एक साधारण सी बात है।

तीसरा शत्रु 'लोभ' है। धन के लिये अनुचित और असीमित प्रेम को 'लोभ' कहते हैं। लोभी मनुष्य धन चाहता है परन्तु धन का उचित उपयोग नहीं कर सकता। धन के लोभ में स्त्रियां सतीत्व छोड़ देती हैं। लोग अपने मां वाप की हत्या कर देते हैं। चोरी, डाका, जुआ, रिश्वत, मकर, फरेब यह सब लोभ के कारण होते है।

चौथा शत्रु है 'मोह'। किसी वस्तु के लिये अनुचित प्रेम होना 'मोह है। संस्कृत में 'मुह' धातु का अर्थ है मूर्छा या वेहोशी होना। मोह भी बुद्धि को विकृत कर देता है।

धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष रूपी पुण्य चतुष्टय में और काम-क्रोध-लोभ-मोह रूपी पाप-चतुष्टय में परस्पर ऐसा ही वैर है जैसा कि (प्रकाश और अंधकार में) यें एक दूसरे के विरोधी हैं और एक-दूसरे के नाश करने में तत्पर रहते हैं। यजुर्वेद के ४० वें अध्याय के १ ले मन्त्र में उपदेश दिया है कि :——

मा गृधः कस्यस्विद् धनम्।

लालच मत करो। धन किसका है ? अर्थात् किसी एक का धन है ही नहीं। जो लालच करके धन कमाता है उसके पास भी धन नहीं रहता। बड़े बड़े धन वालों को भी अन्त में धन छोड़ना पड़ता है। जो धन को नहीं छोड़ना चाहते उनको धन छोड़कर भाग जाता है, इसलिये वेद में कहा है——

तेन त्यक्तेन भुंजीथाः। (यजु० ४०-१)

(त्यक्तेन सता तेन जगता)। जगत् की चीजों का इस प्रकार उपभोग करो मानो तुम उसको छोड़ रहे हो और उससे चिमटना नहीं चाहते। मुसाफिर जिस सड़क पर चलता है उससे चिमटता नहीं। उसे छोड़ता है। सड़क के एक भाग को छोड़कर आगे बढ़ जाना ही यात्रा है। जो एक स्थान पर ही रहना चाहता है वह यात्री नहीं। धर्म का जीवन एक यात्रा है। आगे बढ़ने का नाम यात्रा है। और 'मोक्ष' उसका अन्तिम ध्येय है।

चार पदारथ छाँड़ि के चार पदारथ लेउ।
मर्त्यलोक में देव बन जन्म सफल कर लेउ॥

वेद पढ़ो, वेद को समझो और वेद के अनुकूल आचरण करो। तुम्हारा भला होगा।

आज श्रावणी का पवित्र दिन है—

सभी प्रण करें कि—

१. मैं प्रतिदिन वैदिक ग्रन्थों का स्वाध्याय करूंगा।
२. वेद-प्रचार में प्रतिमास सुविधानुसार अपनी आय से दान दूंगा।
३. ईर्ष्या, द्वेष और आपस की फूट से दूर रहकर महर्षि दयानन्द के महान् संकल्प की पूर्ति के लिए जो कुछ भी संभव होगा करता रहूंगा।

श्रावणी का यही संदेश है